

Chapter दस

देवताओं तथा वृत्रासुर के मध्य युद्ध

इस अध्याय में बताया है कि इन्द्र द्वारा दधीचि का शरीर प्राप्त करने के पश्चात् दधीचि की अस्थियों से वज्र बनवाया गया और फिर देवताओं तथा वृत्रासुर के मध्य युद्ध छिड़ गया।

भगवान् की आज्ञानुसार देवतागण दधीचि मुनि के पास गये और उनसे उनका शरीर माँगा। दधीचि मुनि देवताओं के मुख से धर्म के विषय में सुनना चाहते थे, अतः उन्होंने हँसी में अपना शरीर त्यागने से इनकार कर दिया। किन्तु बाद में सत्कार्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने शरीर-

त्याग करना स्वीकार कर लिया, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् इस शरीर को प्रायः कुत्ते तथा गीदड़ जैसे नीच पशु खा जाते हैं। दधीचि ने पंचतत्त्व निर्मित अपने स्थूल देह को पहले मूल पंचतत्त्वों में समाहित किया और अपनी आत्मा को श्रीभगवान् के चरणकमलों में स्थिर कर दिया। इस प्रकार उन्होंने स्थूल शरीर त्याग दिया। तब विश्वकर्मा की सहायता से देवताओं ने दधीचि की अस्थियों से वज्र तैयार करवाया। इस वज्र से सज्जित, वे हाथियों की पीठ पर सवार होकर लड़ने के लिए तैयार हो गये।

सत्ययुग के अन्त तथा त्रेतायुग के प्रारम्भ में देवों तथा असुरों में भीषण युद्ध हुआ। देवों का तेज न सह सकने के कारण असुर युद्ध भूमि से भाग गये, किन्तु उनका नायक वृत्रासुर अकेला रह गया। उसने असुरों को भागते देखकर युद्धभूमि में लड़ने और मरने की महत्ता पर उपदेश दिया। जो युद्ध में जीतता है उसे भौतिक सम्पत्ति प्राप्त होती है, किन्तु युद्धभूमि में प्राण गँवाने पर उसे स्वर्गीय लोकों में वास मिलता है। दोनों ही प्रकार से योद्धा लाभ में रहता है।

श्रीबादरायणिरुवाच

इन्द्रमेवं समादिश्य भगवान्विश्वभावनः ।

पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इन्द्रम्—इन्द्र को; एवम्—इस प्रकार; समादिश्य—उपदेश देकर; भगवान्—श्रीभगवान्; विश्व-भावनः—समस्त विश्व का आदि कारण; पश्यताम् अनिमेषाणाम्—देवताओं द्वारा टकटकी लगाकर देखे जाने पर; तत्र—वहीं पर; एव—निस्सन्देह; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; हरिः—भगवान्।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार इन्द्र को आदेश देकर भगवान् हरि, जो दृश्य जगत के कारणस्वरूप हैं, देवताओं के देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये।

तथाभियाचितो देवैरृषिराथर्वणो महान् ।

मोदमान उवाचेदं प्रहसन्निव भारत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; अभियाचितः—माँगे जाने पर; देवैः—देवताओं के द्वारा; ऋषिः—परम साधु पुरुष; आथर्वणः—अथर्वा के पुत्र, दधीचि ने; महान्—महापुरुष; मोदमानः—प्रसन्न होकर; उवाच—कहा; इदम्—यह; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—कुछ-कुछ; भारत—हे महाराज परीक्षित!

हे राजा परीक्षित! भगवान् की आज्ञानुसार देवतागण अथर्वा के पुत्र दधीचि के पास पहुँचे। वे अत्यन्त उदार थे और जब देवताओं ने उनसे शरीर देने के लिए प्रार्थना की तो वे तुरन्त तैयार से हो गये। किन्तु उनसे धार्मिक उपदेश सुनने के उद्देश्य से वे हँसे और विनोद में इस प्रकार बोले।

अपि वृन्दारका यूयं न जानीथ शरीरिणाम् ।
संस्थायां यस्त्वभिद्रोहो दुःसहश्चेतनापहः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अपि—यद्यपि; वृन्दारकाः—देवताओ; यूयम्—तुम सब; न जानीथ—नहीं जानते; शरीरिणाम्—शरीरधारियों की; संस्थायाम्—मृत्यु के समय या शरीर त्यागते समय; यः—जो; तु—तब; अभिद्रोहः—तीक्ष्ण वेदना; दुःसहः—असह्य; चेतन—चेतना; अपहः—चली जाती है।

हे देवताओ! मृत्यु के समय तीक्ष्ण असह्य वेदना के कारण समस्त देहधारी जीवात्माओं की चेतना जाती रहती है। क्या तुम्हें इस वेदना का पता नहीं है ?

जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः ।
क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णवे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

जिजीविषूणाम्—जीवित रहने के इच्छुक; जीवानाम्—समस्त जीवात्माओं का; आत्मा—शरीर; प्रेष्ठः—अत्यन्त प्रिय; इह—यहाँ; ईप्सितः—इच्छित; कः—कौन; उत्सहेत—सह सकता है; तम्—उस शरीर को; दातुम्—देने के लिए; भिक्षमाणाय—माँगने के लिए; विष्णवे—भगवान् विष्णु को भी।

इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीवात्मा को अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है। अपने शरीर को अक्षुण्ण बनाये रखने के संघर्ष में वह सभी प्रकार से, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व न्यौछावर करके, बचाये रखने का प्रयत्न करता है। अतः ऐसा कौन है, जो अपना शरीर किसी अन्य को दान देना चाहेगा, भले ही भगवान् विष्णु क्यों न माँगें ?

तात्पर्य : कहा गया है—आत्मानं सर्वतो रक्षेत् ततो धर्मं ततो धनम्—मनुष्य को सब प्रकार से

अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिए, तब वह धर्म और उनके बाद अपने धन की रक्षा करे। यही समस्त जीवात्माओं की कामना होती है। कोई भी अपना शरीर तब तक त्यागना नहीं चाहता जब तक कोई बलपूर्वक छीन न ले। यद्यपि देवताओं ने कहा कि वे भगवान् विष्णु के आदेशानुसार अपने लाभ के लिए दधीचि का शरीर माँग रहे हैं, किन्तु दधीचि ने अपना शरीर देने से ऊपरी मन से इनकार कर दिया।

श्रीदेवा ऊचुः

किं नु तद्दुस्त्यजं ब्रह्मन्पुंसां भूतानुकम्पिनाम् ।

भवद्विधानां महतां पुण्यश्लोकेऽद्यकर्मणाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; तत्—वह; दुस्त्यजम्—छोड़ना कठिन; ब्रह्मन्—हे पूज्य ब्राह्मण; पुंसाम्—मनुष्यों का; भूत-अनुकम्पिनाम्—जीवात्माओं के दुखों के प्रति अत्यन्त सहानुभूत लोग; भवत्-विधानाम्—आप जैसे; महताम्—महान्; पुण्य-श्लोक-ईड्य-कर्मणाम्—जिनके पुण्यकार्यों की सभी विद्वान् प्रशंसा करते हैं।

देवताओं ने उत्तर दिया—हे ब्रह्मन्! आप जैसे पवित्र तथा प्रशंसनीय कार्यों वाले पुरुष सभी व्यक्तियों पर परम दयालु एवं वत्सल होते हैं। ऐसी पवित्र आत्माएँ परोपकार के लिए क्या नहीं दे सकतीं? वे सब कुछ, यहाँ तक कि अपना शरीर भी, दे सकती हैं।

नूनं स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम् ।

यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; स्व-अर्थ-परः—इस अथवा अगले जीवन में मात्र इन्द्रिय तृप्ति में रुचि रखने वाला; लोकः—सामान्य भौतिकतावादी व्यक्ति; न—नहीं; वेद—जानते हैं; पर-सङ्कटम्—अन्यों का कष्ट; यदि—यदि; वेद—जानते हैं; न—नहीं; याचेत—माँगे; न—नहीं; इति—इस प्रकार; न आह—कहता नहीं; यत्—चूँकि; ईश्वरः—दान देने में समर्थ।

जो नितान्त स्वार्थी होते हैं, वे अन्यों की पीड़ा को सोचे बिना उनसे कुछ याचना करते हैं। किन्तु यदि याचक दाता की कठिनाई को जान ले तो वह कोई वस्तु न माँगे। इसी प्रकार जो दान दे सकता है वह याचक (भिखारी) की कठिनाई नहीं समझता अन्यथा जो कुछ भी वह माँगे वह उसे देने से इनकार नहीं करेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो प्रकार के लोगों का वर्णन है—एक वे जो दान देते हैं और दूसरे वे जो माँगते हैं। भिक्षुक को चाहिए कि वह संकटग्रस्त मनुष्य से दान न माँगे। इसी प्रकार जो दान दे सकता है उसे चाहिए कि वह भिक्षुक को इनकार न करे। शास्त्र के यही नैतिक उपदेश हैं। चाणक्य पंडित का कहना है—*सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति*—इस संसार की प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जायेगी, अतः प्रत्येक वस्तु का उपयोग सत्कार्य के लिए कर लेना चाहिए। यदि कोई ज्ञान में उन्नत है, तो उसे सत्कार्य के लिए कुछ भी न्यौछावर करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। इस समय सम्पूर्ण विश्व ईश्वरविहीन सभ्यता के दौर में रहने से भयानक परिस्थिति में है। कृष्णभावना-आन्दोलन को ऐसे अनेक विद्वान पुरुषों की आवश्यकता है, जो ईश्वर की चेतना (भक्ति) को सम्पूर्ण जगत में पुनरुज्जीवित करने के लिए आत्म-बलिदान कर सकें। अतः हम समस्त विद्वान पुरुषों तथा स्त्रियों को इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित होने एवं मानव-समाज में भगवद्भावना को पुनरुज्जीवित करने हेतु आत्मबलिदान करने के लिए आह्वान करते हैं।

श्रीऋषिरुवाच

धर्म वः श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहताः ।

एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं सन्त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—महर्षि दधीचि ने कहा; धर्मम्—धर्म की बातें; वः—तुमसे; श्रोतु-कामेन—सुनने की इच्छा से; यूयम्—तुम; मे—मुझसे; प्रत्युदाहताः—विपरीत उत्तर पाकर; एषः—यह; वः—तुम्हारे लिए; प्रियम्—प्रिय; आत्मानम्—शरीर; त्यजन्तम्—आज या कल मुझे छोड़ कर; सन्त्यजामि—छोड़ता हूँ; अहम्—मैं।

परमसाधु दधीचि ने कहा—मैंने तुम लोगों से धर्म की बातें सुनने के लिए ही तुम्हारे माँगने पर अपना शरीर देने से इनकार कर दिया है। अब, यद्यपि मुझे अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है, तो भी तुम लोगों के कल्याण के लिए मैं इसको छोड़ दूँगा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह आज नहीं तो कल अवश्य मुझे छोड़ देगा।

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान् ।

ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; अध्रुवेण—अस्थायी; आत्मना—शरीर से; नाथाः—हे देवो; न—नहीं; धर्मम्—धार्मिक नियम; न—नहीं; यशः—कीर्ति; पुमान्—मनुष्य; ईहेत—के लिए प्रयत्न करता है; भूत-दयया—जीवों के लिए दया से; सः—वह मनुष्य; शोच्यः—शोचनीय; स्थावरैः—जड़ जीवों के द्वारा; अपि—भी।

हे देवो! जो न तो दुखी प्राणियों पर दया दिखाता है और न धार्मिक नियमों या अक्षुण्ण कीर्ति के महान् कार्यों के लिए अपने नश्वर शरीर की बलि कर सकता है, वह निश्चय ही जड़ प्राणियों तक के द्वारा धिक्कारा जाता है।

तात्पर्य : इस प्रसंग में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु तथा वृन्दावन के छः गोस्वामियों ने एक आदर्श स्थापित किया है। जहाँ तक श्री चैतन्य महाप्रभु का सम्बन्ध है श्रीमद्भागवत (११.५.३४) में कहा गया है कि—

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं

धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।

मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्

वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

“हम भगवान् के उन चरणकमलों को नमस्कार करते हैं जिनका मनुष्य को सदैव स्मरण करना चाहिए। उन्होंने अपना गृहस्थ जीवन, यहाँ तक कि अपनी नित्य संगिनी को भी त्याग दिया जिनकी पूजा स्वर्ग के वासी तक करते हैं। वे भौतिक माया के द्वारा मोहग्रस्त पतित आत्माओं के उद्धार के लिए वन में चले गये।” संन्यास ग्रहण करने का अभिप्राय है नागरिक रूप से आत्महत्या, किन्तु संन्यास प्रत्येक ब्राह्मण अर्थात् प्रत्येक प्रथम कोटि के मनुष्य के लिए तो अनिवार्य है। श्री चैतन्य महाप्रभु की पत्नी अत्यन्त तरुणी एवं सुन्दरी थीं और उनकी माता अत्यन्त स्नेहमयी थीं। उनके परिवार के सदस्यों का व्यवहार इतना मधुर था कि देवता भी ऐसे घरेलू सुख की कल्पना नहीं कर सकते थे। फिर भी संसार की सभी पतित आत्माओं के उद्धार के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने चौबीस वर्ष की आयु में गृह त्याग कर संन्यास धारण कर लिया। उन्होंने कठोर

संन्यासी का जीवन बिताया और सभी शारीरिक सुखों का त्याग किया। इसी प्रकार उनके छः गोस्वामी समाज में अच्छे पदों पर मंत्री थे, किन्तु वे सब कुछ त्याग कर श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। श्रीनिवास आचार्य कहते हैं—

त्यक्त्वा तूर्णमशेषमण्डलपतिश्रेणीं सदा तुच्छवत् ।

भूत्वा दीनगणेशकौ करुणया कौपीन कन्थाश्रितौ ।

ये गोस्वामी अपने-अपने मंत्री, जमींदार तथा विद्वान पदों को त्याग कर श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में संसार की पतित-आत्माओं पर अनुग्रह करने के लिए सम्मिलित हो गये (दीन-गणेशकौ करुणया)। उन्होंने भिक्षुओं का जीवन स्वीकार किया, वे केवल लँगोटी तथा फटी गुदड़ी (कन्था) धारण करते हुए वृन्दावन में रहने लगे और श्री चैतन्य महाप्रभु की आज्ञा का पालन करते थे जिससे वृन्दावन की विगत कीर्ति पुनः खोद सकें।

इसी प्रकार जिन लोगों को सुख-सुविधा प्राप्त है, उन्हें चाहिए कि वे पतित आत्माओं के उद्धार हेतु कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हों। भूतदयया, माया मृगं दयितयेप्सितम् तथा दीन गणेशकौ करुणया इन सभी शब्दों से यही अर्थ निकलता है। ये शब्द उन लोगों के लिए, जो मानव समाज को उचित ज्ञान तक उठाना चाहते हैं, अत्यन्त सार्थक हैं। मनुष्यों को चाहिए कि श्री चैतन्य महाप्रभु, छः गोस्वामी तथा उनसे भी पूर्व महर्षि दधीचि के आदेशों का अनुकरण करते हुए कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित हों। क्षणिक शारीरिक सुखों के लिए अपने जीवन को व्यर्थ न जाने देकर मनुष्यों को चाहिए कि उसे अच्छे कार्यों में लगाएँ। अन्ततः इस शरीर को नष्ट होना है, अतः मनुष्यों को चाहिए कि इसका उत्सर्ग सारे संसार में धर्म फैलाने के शुभ कार्य में करें।

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः ।

यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतने; अव्ययः—अविनाशी; धर्मः—धार्मिक नियम; पुण्य-श्लोकैः—अत्यन्त पवित्र कहे जाने वाले प्रसिद्ध पुरुषों द्वारा; उपासितः—मान्य; यः—जो; भूत—जीवों का; शोक—दुख से; हर्षाभ्याम्—तथा सुखसे; आत्मा—मन; शोचति—पश्चात्ताप करता है; हृष्यति—प्रसन्न होता है।

यदि कोई मनुष्य दूसरे जीवों के दुख से दुखी होता है और उनके सुख को देखकर प्रसन्न होता है, तो पवित्र तथा परोपकारी महापुरुषों द्वारा ऐसे पुरुष के धर्म को अविनाशी माना गया है।

तात्पर्य : प्राकृत गुणों से प्राप्त शरीर के अनुसार मनुष्य तरह-तरह के धर्मों का या व्यवसायों का पालन करता है। किन्तु इस श्लोक में असली धर्म की व्याख्या दी गई है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि दूसरे के दुख से दुखी और दूसरे के सुख से सुखी हो। *आत्मवत् सर्वभूतेषु*—दूसरों के सुख तथा दुख को अपना ही मानना चाहिए। इसी आधार पर बौद्धों का अहिंसा का धार्मिक सिद्धान्त स्थापित है—*अहिंसा परमधर्मः*। जब कोई हमें सताता है, तो हमें पीड़ा पहुँचती है, अतः हमें अन्य प्राणियों को नहीं सताना चाहिए। भगवान् बुद्ध का ध्येय वृथा पशु-हत्या को बन्द कराना था, इसलिए उन्होंने उपदेश दिया कि अहिंसा ही परम धर्म है।

एक ओर कोई पशुओं का वध करता रहे और दूसरी ओर धार्मिक कहलाए, ऐसा सम्भव नहीं। यह सबसे बड़ी धूर्तता है। जीजस क्राइस्ट ने कहा—“हिंसा मत करो,” किन्तु धूर्त लोग अपने को ईसाई बताकर हजारों कसाईघर चला रहे हैं। इस श्लोक में ऐसी धूर्तता की निन्दा की गई है। मनुष्य को दूसरों को प्रसन्न देखकर प्रसन्न होना और उन्हें दुखी देखकर दुखी होना चाहिए। इसी नियम का पालन होना चाहिए। दुर्भाग्यवश इस समय तथाकथित परोपकारी तथा मानववादी लोग बेचारे पशुओं के प्राण लेकर सम्पूर्ण मानवता के सुख का समर्थन कर रहे हैं। इस श्लोक में इसकी संस्तुति नहीं की गई है। इस श्लोक में यह स्पष्ट कहा गया है, कि मनुष्य को सभी जीवों के प्रति दयालु होना चाहिए। चाहे मनुष्य हो, पशु या वृक्ष—ये सभी जीवात्माएँ श्रीभगवान् की सन्तानें हैं। *भगवद्गीता* (१४.४) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

“हे कुन्तीपुत्र! यह समझ लेना चाहिए कि सभी प्रकार की योनियाँ इस भौतिक प्रकृति में जन्म लेने के कारण ही सम्भव हैं और मैं बीज-प्रदाता पिता हूँ।” इन जीवात्माओं के विभिन्न रूप उनके बाह्य वेश-भूषाएँ हैं। प्रत्येक जीव वास्तव में आत्मा है, जो ईश्वर का अंश है। इसलिए किसी एक प्रकार के जीव का पक्ष नहीं लेना चाहिए। वैष्णव समस्त जीवों को ईश्वर का अंश मानता है। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (५.१८ तथा १८.५४) में कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥

“यथार्थ ज्ञानी पुरुष विनम्र विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समान दृष्टि से देखता है।”

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

“दिव्यत्व-प्राप्त पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और वह पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। वह न तो शोक करता है और न किसी वस्तु की इच्छा करता है; वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मुझमें शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।” अतः वैष्णव सचमुच पूर्ण मानव है, क्योंकि वह दूसरे को दुखी देखकर शोक करता है और अन्यो को प्रसन्न देखकर स्वयं प्रसन्न होता है। वैष्णव ‘*परदुःखदुःखी*’ होता है, वह बद्धजीवों को भौतिकता से दुखी देखकर सदैव दुखी होता है। इसलिए वैष्णव सारे संसार में कृष्णभावनामृत का उपदेश देने में सदैव व्यस्त रहता है।

अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः ।

यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यैः स्वज्ञातिविग्रहैः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; दैन्यम्—दीन स्थिति; अहो—ओह; कष्टम्—कोरे कष्ट; पारक्यैः—जो मृत्यु के बाद कुत्ते तथा गीदड़ों के द्वारा भक्ष्य हैं; क्षण-भङ्गुरैः—किसी भी क्षण नष्ट होने वाला; यत्—क्योंकि; न—नहीं; उपकुर्यात्—काम आएगा; अ-स्व-अर्थैः—अपने हित के लिए नहीं; मर्त्यैः—जीवात्मा जिसकी मृत्यु ध्रुव है; स्व—अपनी सम्पत्ति; ज्ञाति—परिजनों तथा मित्रों; विग्रहैः—तथा अपने शरीर से।

यह शरीर, जिसे मृत्यु के पश्चात् कुत्ते तथा गीदड़ खा जायेंगे, मेरे अपने किसी काम का नहीं है। यह कुछ काल तक ही काम आने वाला है और किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। यह शरीर तथा इसके सभी कुटुम्बी तथा सम्पत्ति परोपकार में लगने चाहिए, अन्यथा वे सब दुख एवं विपत्ति के कारण बनेंगे।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत (१०.२२.३५) में अन्यत्र ऐसा ही उपदेश दिया गया है—

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।

प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आचरणं सदा ॥

“यह प्रत्येक जीव का धर्म है कि अपने जीवन, धन, बुद्धि तथा वाणी से अन्यो के हित के लिए शुभ कार्य करे।” यही जीवन का ध्येय है। अपना शरीर तथा अपने मित्रों एवं परिजनों के शरीर तथा अपनी सम्पत्ति एवं जो कुछ भी हो, वह सारा परोपकार में लगा देना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु का यही सन्देश है। श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदि ९.४१) में कहा गया है—

भारतभूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार ॥

“जिसने इस भारत भूमि में मनुष्य के रूप में जन्म लिया है, उसे चाहिए कि वह अपने जीवन को सफल बनाए और दूसरों के हित के लिए कार्य करे।”

उपकुर्यात् शब्द का अर्थ है पर-उपकार अर्थात् दूसरों की सहायता करना। निस्सन्देह, मानव समाज में ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं, जो दूसरों की सहायता करती हैं, किन्तु परोपकारी समाजसेवी यह नहीं जानते कि अन्यो की सहायता किस प्रकार की जाये, अतः उनकी समाजसेवा की लालसा प्रभावशाली नहीं होती। वे जीवन के चरम उद्देश्य (श्रेय आचरणम्) को नहीं जानते, जो परमेश्वर

को प्रसन्न करना है। यदि समग्र समाजसेवी तथा मानवतावादी गतिविधियाँ जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने—श्रीभगवान् को प्रसन्न करने—की ओर निर्देशित हों तब वे पूर्ण होंगी। श्रीकृष्ण के बिना कोई भी मानवतावादी कार्य व्यर्थ है। श्रीकृष्ण को प्रत्येक गतिविधि का केन्द्र बनाना होगा, अन्यथा किसी भी गतिविधि का कोई मूल्य नहीं है।

श्रीबादरायणिरुवाच

एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्खथर्वणस्तनुम् ।

परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयञ्जहौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृत-व्यवसितः—निश्चय करके कि क्या करना है (देवों को शरीर देना है); दध्यङ्—दधीचि मुनि; आथर्वणः—अथर्वा का पुत्र; तनुम्—शरीर को; परे—परम; भगवति—भगवान् को; ब्रह्मणि—परब्रह्म को; आत्मानम्—स्वतः, आत्मा; सन्नयन्—भेंट करके; जहौ—त्याग दिया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार अथर्वा के पुत्र दधीचि मुनि ने देवताओं की सेवा के लिए अपना शरीर त्यागने का निश्चय किया। उन्होंने अपने आप (आत्मा) को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणारविन्द में रख कर पंचभूत से निर्मित अपने स्थूल शरीर को त्याग दिया।

तात्पर्य : जैसाकि परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयन् शब्दों से प्रकट है दधीचि ने अपने आत्मा को स्वयं श्रीभगवान् के चरणों पर चढ़ा दिया। इस प्रसंग में धृतराष्ट्र द्वारा अपना शरीर छोड़े जाने की घटना का उल्लेख किया जा सकता है, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध (१.१३.५५) में हुआ है। धृतराष्ट्र ने उन पंच तत्त्वों को जिससे उनका शरीर बना था, पृथक् करके उन्हें तत् तत् आगारों में बाँट दिया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने उन पाँच तत्त्वों को आदि महत् तत्त्व में मिला दिया। अपनी भौतिक बुद्धि के द्वारा उन्होंने भौतिक सम्बन्धों से आत्मा को पृथक् कर लिया और अपने आप को श्रीभगवान् के चरणारविन्द में अर्पित कर दिया। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दिया जाता है—जब कोई मिट्टी का पात्र टूटता है, तो पात्र के भीतर का सूक्ष्म आकाश बाह्य बृहत् आकाश में मिल जाता है। मायावादी दार्शनिक श्रीमद्भागवत के इस विवरण को ठीक से नहीं

समझ पाते। इसलिए रामानुज स्वामी ने अपने ग्रन्थ वेदान्त तत्त्व सार में वर्णन किया है कि आत्मा के मिलन का अर्थ है कि आठ तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर, अहंकार, मन तथा बुद्धि—से निर्मित शरीर से अपने को पृथक् करके आत्मा अपने आपको सनातन रूप में श्रीभगवान् की सेवा में लगा लेता है (ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः। अनादिरादिरोविन्दः सर्वकारणकारणम्)। भौतिक तत्त्वों का भौतिक कारण भौतिक शरीर को सोख लेता है और आत्मा अपने आदिस्वरूप को ग्रहण कर लेता है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है— जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'—जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति श्रीकृष्ण के शाश्वत दास की है। जब मनुष्य आत्मज्ञान के अनुशीलन से तथा भक्ति से इस भौतिक शरीर पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो वह अपनी स्थिति को पुनः प्राप्त करके भगवान् की भक्ति में लग सकता है।

यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वद्वयध्वस्तबन्धनः ।

आस्थितः परमं योगं न देहं बुबुधे गतम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत—वश में; अक्ष—इन्द्रियाँ; असु—प्राणवायु; मनः—मन; बुद्धिः—बुद्धि; तत्त्व-द्वय—तत्त्वों एवं भौतिक तथा आत्मशक्तियों का ज्ञाता; ध्वस्त-बन्धनः—बन्धन से मुक्त; आस्थितः—स्थित होकर; परमम्—परम; योगम्—ध्यान, समाधि को; न—नहीं; देहम्—भौतिक शरीर को; बुबुधे—देखा; गतम्—निकला हुआ।

दधीचि मुनि ने अपनी इन्द्रियों, प्राण, मन तथा बुद्धि को संयमित किया और समाधि में लीन हो गये। इस प्रकार उनके समस्त भव-बन्धन छिन्न हो गये। वे यह नहीं देख सकते थे कि उनका भौतिक शरीर किस प्रकार आत्मा से पृथक् हो गया।

तात्पर्य : भगवद्गीता (८.५) में श्रीकृष्ण का कथन है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

“जो कोई अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह तत्काल मेरे स्वभाव को प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है” वस्तुतः मृत्यु के पूर्व ही इसका अभ्यास करना

चाहिए, किन्तु पूर्ण योगी अर्थात् भक्त श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए समाधि में मरता है। उसे यह पता नहीं चल पाता कि उसका शरीर आत्मा से पृथक् हो रहा है। आत्मा तुरन्त वैकुण्ठलोक को चला जाता है। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति*—आत्मा पुनः संसारी माता के गर्भ में प्रवेश नहीं करता वरन् वह भगवान् के धाम चला जाता है। यह भक्तियोग ही सर्वोच्च योग विधि है, जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (६.४७) में कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

“समस्त योगियों में से जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अन्तरंग रूप में जुड़ा हुआ है और परम श्रेष्ठ है।” भक्तियोगी सदैव श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है, अतः मृत्यु के समय वह अपने आपको, मृत्यु की वेदना सहे बिना, *कृष्णलोक* में स्थानान्तरित कर सकता है।

अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा ।

मुनेः शक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वितः ॥ १३ ॥

वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत ।

स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; वज्रम्—वज्र को; उद्यम्य—दृढ़तापूर्वक लेकर; निर्मितम्—बनाया हुआ; विश्वकर्मणा—विश्वकर्मा द्वारा; मुनेः—दधीचि मुनि की; शक्तिभिः—शक्ति से; उत्सिक्तः—सिक्त होकर; भगवत्—श्रीभगवान् की; तेजसा—आध्यात्मिक शक्ति से; अन्वितः—प्रदत्त; वृतः—घिरे हुए; देव-गणैः—अन्य देवताओं से; सर्वैः—समस्त; गजेन्द्र—अपने हाथी के; उपरि—पीठ पर; अशोभत—चमकने लगा; स्तूयमानः—स्तुति किया जाकर; मुनि-गणैः—मुनियों के द्वारा; त्रै-लोक्यम्—तीनों लोकों को; हर्षयन्—प्रसन्न करते हुए; इव—मानो।

तत्पश्चात् राजा इन्द्र ने विश्वकर्मा द्वारा दधीचि की अस्थियों से निर्मित वज्र को दृढ़तापूर्वक धारण किया। दधीचि मुनि की परम शक्ति से आविष्ट एवं श्रीभगवान् के तेज से प्रकाशित होकर इन्द्र अपने वाहन ऐरावत की पीठ पर सवार हुआ। उसे समस्त देवता घिरे हुए थे और सभी मुनिगण उसकी प्रशंसा कर रहे थे। इस तरह जब वह वृत्रासुर का वध करने के

लिए सवार होकर चला तो वह अत्यन्त सुशोभित हो रहा था और तीनों लोकों को भा रहा था।

वृत्रमभ्यद्रवच्छत्रुमसुरानीकयूथपैः ।

पर्यस्तमोजसा राजन्क्रुद्धो रुद्र इवान्तकम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वृत्रम्—वृत्रासुर पर; अभ्यद्रवत्—आक्रमण किया; शत्रुम्—शत्रु; असुर-अनीक-यूथपैः—असुरों के सैनिकों के सेनापतियों द्वारा; पर्यस्तम्—घिरा हुआ; ओजसा—अत्यन्त वेग से; राजन्—हे राजन्; क्रुद्धः—क्रोधित होकर; रुद्रः—भगवान् शिव का अवतार; इव—सदृश; अन्तकम्—अन्तक अथवा यमराज।

हे राजा परीक्षित! जिस प्रकार रुद्र अत्यन्त क्रुद्ध होकर पहले समय में अन्तक (यमराज) को मारने के लिए उसकी ओर दौड़े थे, उसी प्रकार इन्द्र ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर बड़े ही वेग से आसुरी सेना के नायकों से घिरे वृत्रासुर पर धावा बोल दिया।

ततः सुराणामसुरै रणः परमदारुणः ।

त्रेतामुखे नर्मदायामभवत्प्रथमे युगे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तदनन्तर; सुराणाम्—देवताओं का; असुरैः—असुरों के साथ; रणः—महान् युद्ध; परम-दारुणः—अत्यन्त भयानक; त्रेता-मुखे—त्रेतायुग के प्रारम्भ में; नर्मदायाम्—नर्मदा नदी के तट पर; अभवत्—हुआ; प्रथमे—प्रथम; युगे—कल्प में।

तत्पश्चात् सत्ययुग के अन्त तथा त्रेतायुग के प्रारम्भ में नर्मदा नदी के तट पर देवों तथा असुरों के मध्य घमासान युद्ध हुआ।

तात्पर्य : यहाँ पर नर्मदा का अभिप्राय भारत की नर्मदा से नहीं है। भारत में पाँच पवित्र नदियाँ हैं—गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी तथा कृष्णा—ये सभी स्वर्गिक हैं, गंगा नदी की भाँति नर्मदा भी स्वर्ग में बहती है। असुरों तथा देवों का संग्राम स्वर्गलोक में ही हुआ।

प्रथमे युगे का अर्थ है, प्रथम कल्प (युग) के प्रारम्भ में, अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ में। ब्रह्मा के एक-एक दिन में चौदह मनु होते हैं जिनमें से प्रत्येक इकहत्तर कल्प तक जीवित रहता है। चारों युग—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—मिलकर एक कल्प बनाते हैं। आजकल हम

वैवस्वत मनु के मन्वन्तर में रह रहे हैं, जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में हुआ है (*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह*)। इस समय हम वैवस्वत मनु के अट्टाईसवें कल्प में हैं, किन्तु यह युद्ध वैवस्वत मनु के प्रथम मन्वन्तर में हुआ। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से गणना की जा सकती है कि युद्ध कब हुआ। चूँकि प्रत्येक कल्प तैंतालीस लाख वर्ष का होता है और अब हम अट्टाईसवें कल्प में हैं, अतः लगभग १२ करोड़ ४ लाख वर्ष बीत चुके हैं, जब नर्मदा के तट पर यह युद्ध हुआ था।

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां पितृवह्निभिः ।
 मरुद्भिरभुभिः साध्यैर्विश्वेदेवैर्मरुत्पतिम् ॥ १७ ॥
 दृष्ट्वा वज्रधरं शक्रं रोचमानं स्वया श्रिया ।
 नामृष्यन्नसुरा राजन्मृधे वृत्रपुरःसराः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

रुद्रैः—रुद्रों के द्वारा; वसुभिः—वसुओं के द्वारा; आदित्यैः—आदित्यों के द्वारा; अश्विभ्याम्—अश्विनी कुमारों के द्वारा; पितृ—पितरों से; वह्निभिः—वह्नियों के द्वारा; मरुद्भिः—मरुतों के द्वारा; ऋभुभिः—ऋभुओं के द्वारा; साध्यैः—साध्यों के द्वारा; विश्वे-देवैः—विश्वदेवों के द्वारा; मरुत्-पतिम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र को; दृष्ट्वा—देखकर; वज्र-धरम्—वज्र धारण किये; शक्रम्—इन्द्र का अन्य नाम; रोचमानम्—चमकते हुए; स्वया—अपने आप से; श्रिया—ऐश्वर्य; न—नहीं; अमृष्यन्—सह्य, सहनीय; असुराः—सभी असुर; राजन्—हे राजा; मृधे—युद्ध में; वृत्र-पुरःसराः—वृत्रासुर के नेतृत्व में।

हे राजन्! जब वृत्रासुर को आगे करके सभी असुर युद्धभूमि में आये तो उन्होंने देखा कि राजा इन्द्र वज्र धारण किये हुए है और रुद्रों, वसुओं, आदित्यों, अश्विनी-कुमारों, पितरों, वह्नियों, मरुतों, ऋभुओं, साध्यों तथा विश्वदेवों से घिरा हुआ है और इस प्रकार से देदीप्यमान है कि उसका तेज असुरों के लिए असह्य था।

नमुचिः शम्बरोऽनर्वा द्विमूर्धा ऋषभोऽसुरः ।
 हयग्रीवः शङ्खु शिरा विप्रचित्तिरयोमुखः ॥ १९ ॥
 पुलोमा वृषपर्वा च प्रहेतिहेतिरुत्कलः ।
 दैतेया दानवा यक्षा रक्षांसि च सहस्रशः ॥ २० ॥
 सुमालिमालिप्रमुखाः कार्तस्वरपरिच्छदाः ।
 प्रतिषिध्येन्द्रसेनाग्रं मृत्योरपि दुरासदम् ॥ २१ ॥

अभ्यर्दयन्नसम्भ्रान्ताः सिंहनादेन दुर्मदाः ।

गदाभिः परिघैर्बाणैः प्रासमुद्गरतोमरैः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नमुचिः—नमुचि; शम्बरः—शम्बर; अनर्वा—अनर्वा; द्विमूर्धा—द्विमूर्धा; ऋषभः—ऋषभ; असुरः—असुर; हयग्रीवः—हयग्रीव; शङ्कु शिराः—शङ्कुशिरा; विप्रचित्तिः—विप्रचित्ति; अयोमुखः—अयोमुख; पुलोमा—पुलोमा; वृषपर्वा—वृषपर्वा; च—भी; प्रहेतिः—प्रहेति; हेतिः—हेति; उत्कलः—उत्कल; दैतेयाः—दैत्यगण; दानवाः—दानवगण; यक्षाः—यक्षगण; रक्षांसि—राक्षस; च—तथा; सहस्रशः—हजारों में; सुमालि-मालि-प्रमुखाः—सुमालि तथा मालि आदि अन्य; कार्तस्वर—सोने के; परिच्छदाः—आभूषणों से युक्त; प्रतिषिध्य—पीछे रहकर; इन्द्र-सेना-अग्रम्—इन्द्र की सेना के आगे; मृत्योः—मृत्यु के लिए; अपि—भी; दुरासदम्—पहुँचना कठिन; अभ्यर्दयन्—सताये हुए; असम्भ्रान्ताः—डर रहित; सिंह-नादेन—सिंह की सी गर्जना से; दुर्मदाः—भयानक; गदाभिः—गदा से; परिघैः—लौहगदा से; बाणैः—बाणों से; प्रास-मुद्गर-तोमरैः—कँटीले प्रक्षेपास्त्रों, मुगदर तथा भालों से।

सैकड़ों हजारों असुरों, यक्षों, राक्षसों (मनुष्य-भक्षकों) तथा सुमालि, मालि आदि अन्यो ने राजा इन्द्र की सेनाओं को रोका जिन्हें साक्षात् काल भी नहीं जीत सकता था। असुरों में नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा, ऋषभ, असुर, हयग्रीव, शङ्कु-शिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति तथा उत्कल सम्मिलित थे। ये अजेय असुर स्वर्णाभूषणों से भूषित होकर सिंह के समान निर्भीक होकर घोर नाद कर रहे थे और गदा, परिघ, बाण, प्रास, मुद्गर तथा तोमर जैसे हथियारों से देवताओं को पीड़ा पहुँचा रहे थे।

शूलैः परश्वधैः खड्गैः शतघ्नीभिर्भुशुण्डिभिः ।

सर्वतोऽवाकिरन्नास्त्रैरस्त्रैश्च विबुधर्षभान् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शूलैः—बछ्छों से; परश्वधैः—फरसों से; खड्गैः—तलवारों से; शतघ्नीभिः—शतघ्नियों से; भुशुण्डिभिः—भुशुण्डियों से; सर्वतः—चारों ओर; अवाकिरन्—तितर-बितर करके; शस्त्रैः—शस्त्रों से; अस्त्रैः—बाणों से; च—तथा; विबुध-ऋषभान्—देवताओं के प्रमुख।

बछ्छों, त्रिशूलों, फरसों, तलवारों तथा शतघ्नी एवं भुशुण्डी जैसे अन्य हथियारों से सुसज्जित होकर असुरों ने विभिन्न दिशाओं से आक्रमण कर दिया और देवताओं की सेना के समस्त नायकों को तितर-बितर कर दिया।

न तेऽदृश्यन्त सञ्छन्नाः शरजालैः समन्ततः ।

पुङ्खानुपुङ्खपतितैर्ज्योतीषीव नभोघनैः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे (देवता); अदृश्यन्त—देखे गये; सञ्छन्नाः—पूर्णतया आच्छादित; शर-जालैः—बाणों के जाल से; समन्ततः—चारों ओर; पुङ्ख-अनुपुङ्ख—एक के बाद एक तीर; पतितैः—गिरने से; ज्योतीषि इव—आकाश में तारों के समान; नभः-घनैः—घने बादलों के द्वारा।

जिस प्रकार घने बादलों के आकाश में छा जाने के बाद तारे नहीं दिखाई पड़ते उसी प्रकार एक के बाद एक गिरने वाले बाणों के जाल से पूर्णतया आच्छादित हो जाने से देवतागण दिखाई नहीं पड़ रहे थे।

न ते शस्त्रास्त्रवर्षौघा ह्यासेदुः सुरसैनिकान् ।

छिन्नाः सिद्धपथे देवैर्लघुहस्तैः सहस्रधा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; शस्त्र-अस्त्र-वर्ष-ओघाः—बाणों तथा अन्य हथियारों की वर्षा; हि—निस्सन्देह; आसेदुः—पहुँची; सुर-सैनिकान्—देवताओं की सेना; छिन्नाः—कटी हुई; सिद्ध-पथे—आकाश में; देवैः—देवताओं के द्वारा; लघु-हस्तैः—तेजी से चलते हाथों द्वारा, लाघव से; सहस्रधा—हजारों खण्डों में।

देवताओं की सेना को मारने के लिए हथियारों तथा बाणों के द्वारा की गई वर्षा उन तक नहीं पहुँच पाई, क्योंकि उन्होंने अपने हस्तलाघव से आकाश में इन हथियारों को काटकर खण्ड-खण्ड कर दिया।

अथ क्षीणास्त्रशस्त्रौघा गिरिशृङ्गद्रुमोपलैः ।

अभ्यवर्षन्सुरबलं चिच्छिदुस्तांश्च पूर्ववत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; क्षीण—अत्यन्त दुर्बल; अस्त्र—मंत्र द्वारा छोड़े गये बाणों का; शस्त्र—तथा हथियार; ओघाः—समूह; गिरि—पर्वत की; शृङ्ग—चोटी से; द्रुम—वृक्षों से; उपलैः—तथा पत्थरों से; अभ्यवर्षन्—वर्षा करते हुए; सुर-बलम्—देवताओं के सैनिक; चिच्छिदुः—खण्ड खण्ड कर दिया; तान्—उनको; च—तथा; पूर्व-वत्—पहले की तरह।

जब असुरों के हथियार तथा मंत्र चुक गये, तो उन्होंने देवताओं पर पर्वतों के शिखर, वृक्ष तथा पत्थर बरसाना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु देवता इतने प्रभावशाली तथा दक्ष थे कि उन्होंने पूर्ववत् इन सभी हथियारों को आकाश में खण्ड-खण्ड कर दिया।

तानक्षतान्स्वस्तिमतो निशाम्य

शस्त्रास्त्रपूगैरथ वृत्रनाथाः ।
द्रुमैर्दृषद्भिर्विविधाद्रिशृङ्गैः
रविक्षतांस्तत्रसुरिन्द्रसैनिकान् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको (देवों के सैनिकों को); अक्षतान्—बिना चोट के; स्वस्ति-मतः—अत्यन्त स्वस्थ; निशाम्य—देखकर;
शस्त्र-अस्त्र-पूगैः—हथियारों तथा मंत्रों के समूहों द्वारा; अथ—तत्पश्चात्; वृत्र-नाथाः—वृत्रासुर के अधीन सैनिक; द्रुमैः—
वृक्षों से; दृषद्भिः—पत्थरों से; विविध—अनेक; अद्रि—पर्वतों के; शृङ्गैः—शिखरों द्वारा; अविक्षतान्—बिना घायल;
तत्रसुः—भयभीत हो गये; इन्द्र-सैनिकान्—राजा इन्द्र के सैनिक।

जब वृत्रासुर द्वारा आदेशित असुर सैनिकों ने देखा कि इन्द्र के सैनिक अनेक शस्त्रास्त्रों के समूह से, यहाँ तक कि वृक्षों, पत्थरों तथा पर्वत-शृंगों के द्वारा भी घायल नहीं हो सके हैं और अक्षत बने हुए हैं, तो असुरगण अत्यन्त भयभीत हुए।

सर्वे प्रयासा अभवन्विमोघाः
कृताः कृता देवगणेषु दैत्यैः ।
कृष्णानुकूलेषु यथा महत्सु
क्षुद्रैः प्रयुक्ता ऊषती रूक्षवाचः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—समस्त; प्रयासाः—प्रयत्न; अभवन्—हो गये; विमोघाः—निष्फल; कृताः—किया हुआ; कृताः—पुनः किया गया;
देव-गणेषु—देवताओं में; दैत्यैः—असुरों द्वारा; कृष्ण-अनुकूलेषु—जो श्रीकृष्ण द्वारा सदैव रक्षित हैं; यथा—जिस प्रकार;
महत्सु—वैष्णवों को; क्षुद्रैः—तुच्छ मनुष्यों द्वारा; प्रयुक्ताः—प्रयुक्त; ऊषतीः—प्रतिकूल; रूक्ष—कठोर; वाचः—शब्द।

जब तुच्छ लोग सन्त पुरुषों पर झूठे, क्रुद्ध आरोप लगाने के लिए दुर्वचनों का व्यवहार करते हैं, तो निरर्थक वचनों से महापुरुष विचलित नहीं होते। इसी प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित देवताओं के विरुद्ध किये जाने वाले असुरों के सभी प्रयास निष्फल हो रहे थे।

तात्पर्य : बाँगला में कहावत है, कि गीध के शाप से गाय नहीं मरती। इसी प्रकार कृष्ण के भक्तों पर आसुरी व्यक्तियों द्वारा लगाये जाने वाले आरोपों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। देवता श्रीकृष्ण के भक्त थे, अतः असुरों के शाप निष्फल रहे।

ते स्वप्रयासं वितथं निरीक्ष्य
हरावभक्ता हतयुद्धदर्पाः ।

पलायनायाजिमुखे विसृज्य

पतिं मनस्ते दधुरात्तसाराः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ते—वे (असुर); स्व-प्रयासम्—अपने प्रयत्नों से; वितथम्—निष्फल; निरीक्ष्य—देखकर; हरौ अभक्ताः—जो श्रीभगवान् के भक्त नहीं हैं, असुर; हत—पराजित; युद्ध-दर्पाः—लड़ने में उनका घमंड; पलायनाय—युद्धभूमि से भागने के लिए; आजि-मुखे—युद्ध के प्रारम्भ में; विसृज्य—एक ओर छोड़कर; पतिम्—अपने सेनानायक, वृत्रासुर को; मनः—उनके मन; ते—वे सब; दधुः—दिया; आत्त-साराः—शौर्य-विहीन।

जब श्रीभगवान् कृष्ण के अभक्त असुरों ने देखा कि उनके सारे प्रयास निष्फल हो गये हैं, तो युद्ध करने का उनका सारा घमंड जाता रहा। उन्होंने अपने नायक को युद्ध शुरू होने के समय ही छोड़कर वहाँ से भागने का निश्चय कर लिया, क्योंकि उनके शत्रुओं ने उनका सारा शौर्य छीन लिया था।

वृत्रोऽसुरांस्ताननुगान्मनस्वी

प्रधावतः प्रेक्ष्य बभाष एतत् ।

पलायितं प्रेक्ष्य बलं च भग्नं

भयेन तीव्रेण विहस्य वीरः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वृत्रः—वृत्रासुर, असुरों का सेनानायक; असुरान्—सभी असुरों को; तान्—उन; अनुगान्—उसके अनुयायियों को; मनस्वी—विशाल हृदय वाला; प्रधावतः—भागते हुए; प्रेक्ष्य—देखकर; बभाष—बोला; एतत्—यह; पलायितम्—भागते हुए; प्रेक्ष्य—देखकर; बलम्—सेना को; च—तथा; भग्नम्—टूटा हुआ; भयेन—भय से; तीव्रेण—तीव्र; विहस्य—हँसकर; वीरः—बहादुर।

अपनी सेना को क्षत-विक्षत तथा समस्त असुरों को, यहाँ तक कि जो परमवीर कहलाते थे, अत्यन्त भय के कारण युद्धभूमि से भागते देखकर सचमुच विशाल हृदय वाला बहादुर वृत्रासुर हँसा और इन शब्दों में बोला।

कालोपपन्नां रुचिरां मनस्विनां

जगाद वाचं पुरुषप्रवीरः ।

हे विप्रचित्ते नमुचे पुलोमन्

मयानर्वञ्छम्बर मे शृणुध्वम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

काल-उपपन्नम्—काल तथा परिस्थिति के अनुकूल; रुचिराम्—अत्यन्त सुन्दर; मनस्विनाम्—महान्, विशाल हृदय वाले पुरुषों के; जगाद—बोला; वाचम्—शब्द; पुरुष-प्रवीरः—वीरों का वीर, वृत्रासुर; हे—अरे; विप्रचित्ते—विप्रचित्ति; नमुचे—हे नमुचि; पुलोमन्—हे पुलोमा; मय—हे मय; अनर्वन्—हे अनर्वा; शम्बर—हे शम्बर; मे—मुझसे; शृणुध्वम्—कृपया सुनो।

अपनी स्थिति तथा काल और परिस्थितियों के अनुसार वीरशिरोमणि वृत्रासुर ने ऐसे वचन कहे जो विचारवान् पुरुषों द्वारा प्रशंसा के योग्य थे। उसने असुर-वीरों को बुलाया, “हे विप्रचित्ति, हे नमुचि, हे पुलोमा, हे मय, हे अनर्वा तथा शम्बर! भागो नहीं, मेरी बात तो सुन लो।”

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एव सर्वतः

प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता ।

लोको यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुं

को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

जातस्य—जिसने जन्म लिया है (समस्त जीव) उनकी; मृत्युः—मृत्यु; ध्रुवः—अनिवार्य; एव—निस्सन्देह; सर्वतः—संसार में सर्वत्र; प्रतिक्रिया—बचने का उपाय, काट; यस्य—जिसका; न—नहीं; च—भी; इह—इस संसार में; क्लृप्ता—बनाया गया; लोकः—स्वर्गलोक; यशः—कीर्ति; च—तथा; अथ—तब; ततः—उससे; यदि—यदि; हि—निस्सन्देह; अमुम्—वह; कः—कौन; नाम—निस्सन्देह; मृत्युम्—मृत्यु; न—नहीं; वृणीत—स्वीकार करेगा; युक्तम्—अनुकूल।

वृत्रासुर ने कहा—इस संसार में जन्मे सभी जीवों को मरना है। निश्चित ही, इस संसार में कोई भी मृत्यु से बचने के किसी उपाय को नहीं ढूँढ सका है। विधाता तक ने इससे बचने का कोई उपाय नहीं बताया। ऐसी परिस्थितियों में जब कि मृत्यु अपरिहार्य है और यदि स्वर्गलोक की प्राप्ति हो रही हो और उपयुक्त मृत्यु के कारण सदैव यश तथा कीर्ति बनी रहे तो भला कौन पुरुष होगा जो ऐसी यशस्वी मृत्यु को स्वीकार नहीं करेगा ?

तात्पर्य : यदि मरने से स्वर्गलोक की प्राप्ति हो रही हो और मृत्यु के बाद चिर यश बना रहे तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो ऐसी यशस्वी मृत्यु को टुकरा देगा ? ऐसा ही उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था—“हे अर्जुन! लड़ने से विमुख मत हो। यदि तुम विजयी हुए तो राज्य भोग करोगे और यदि मरते हो तो स्वर्गलोक को जाओगे।” प्रत्येक मनुष्य को यशस्वी कार्य करते हुए मरने के

लिए उद्यत रहना चाहिए। यशस्वी पुरुष कुत्तों की मौत मरने के लिए नहीं होते।

द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुराणौ

यद्ब्रह्मसन्धारणया जितासुः ।

कलेवरं योगरतो विजह्याद्

यदग्रणीवीरशयेऽनिवृत्तः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो; सम्मतौ—(शास्त्रों तथा महापुरुषों द्वारा) सम्मत; इह—इस संसार में; मृत्यू—मृत्युएँ; दुराणौ—अत्यन्त दुर्लभ; यत्—जो; ब्रह्म-सन्धारणया—ब्रह्म, परमात्मा या परब्रह्म कृष्ण में ध्यानमग्न होकर; जित-असुः—मन तथा इन्द्रियों को वश में करके; कलेवरम्—शरीर को; योग-रतः—योग-साधना में लीन; विजह्यात्—त्याग सकता है; यत्—जो; अग्रणीः—आगे चलकर, पथ-पददर्शक बनकर; वीर-शये—युद्धभूमि में; अनिवृत्तः—पीठ न दिखाकर।

यशस्वी मृत्यु को वरण करने के दो उपाय हैं और वे दोनों अत्यन्त दुर्लभ हैं। पहला है, योग-साधना, विशेष रूप से भक्तियोग के द्वारा मरना जिसमें मनुष्य मन तथा प्राण को वश में करके पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चिन्तन में लीन होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। दूसरा है युद्धभूमि में सेना का नेतृत्व करते हुए तथा कभी पीठ न दिखाते हुए मर जाना। शास्त्र में इन दो प्रकार की मृत्युओं को यशस्वी कहा गया है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत “देवताओं तथा वृत्रासुर के मध्य युद्ध” नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।